



ISSN Print: 2394-7500
ISSN Online: 2394-5869
Impact Factor: 3.4
IJAR 2014; 1(1): 128-132
www.allresearchjournal.com
Received: 27-10-2014
Accepted: 28-11-2014

डॉ० ब्रजेन्द्र कुमार
असिस्टेंट प्रोफेसर संस्कृत विभाग
के०ए० (पीजी) कॉलेज कासगंज
(उ०प्र०)

ऋग्वेद के अपत्यार्थक रूपों का ध्वनिवैज्ञानिक मूल्यांकन

डॉ० ब्रजेन्द्र कुमार

शोध सारांश :

ऋग्वेद में प्राप्त हुये लगभग 100 अपत्यार्थक रूपों का ध्वनिविज्ञान के नियमों के अन्तर्गत विश्लेषण किया गया है। उपर्युक्त रूपों में हुये ध्वनि परिवर्तनों जिसमें लोप, आगम, वर्णविपर्यय, वर्णविकार आदि का अध्ययन करते हुये उनके कारणों का अन्वेषण करने का प्रयास किया गया है।

प्रस्तावना

भाषा में प्रयुक्त वह लघुतम इकाई जिसकी उच्चारण एवं श्रोतव्यता की दृष्टि से स्वतन्त्र सत्ता हो 'ध्वनि' कहलाती है। ध्वनि भाषा का एक प्रमुख अंग है। किसी भी भाषा के चार चरण होते हैं— (क) बोलना (ख) सुनना (ग) लिखना (घ) पढ़ना। इनमें प्रथम दोनों का सम्बन्ध 'ध्वनि' से तथा अन्तिम दो का 'लिपि' से होता है। वक्ता और श्रोता के मध्य भाषिक—व्यवहार ध्वनि के माध्यम से होता है। 'स्वर' व 'व्यञ्जन' के भेद से ध्वनियाँ दो प्रकार की होती हैं। आचार्य पतञ्जलि के अनुसार— स्वर वे ध्वनियाँ हैं जो अन्य ध्वनियों की सहायता के बिना स्वयं उच्चरित हो सकती हैं जबकि व्यञ्जन उन्हें कहते हैं जिनके उच्चारण में स्वरों की सहायता लेनी पड़े।¹ वैदिक—संस्कृत में कुल 52 तथा लौकिक संस्कृत में 48 ध्वनियाँ प्राप्त होती हैं। पाणिनि ने माहेश्वर—सूत्रों में 42 ध्वनियाँ परिगणित की हैं।

ध्वनिविज्ञान व उसका विषय :

ध्वनियों का वर्णन, विश्लेषण एवं वर्गीकरण इत्यादि रूप से विशेष अध्ययन 'ध्वनिविज्ञान' कहलाता है। इस शब्द का प्रयोग भाषा विज्ञान की एक प्रमुख शाखा के रूप में किया जाता है। संस्कृत में ध्वनिविज्ञान का पुराना नाम 'शिक्षाशास्त्र' है, जोकि षडशास्त्रों में से एक है। अंग्रेजी में इसके लिए Phonology & Phonetics दो शब्द प्रचलित हैं।

ध्वनि के अन्तर्गत प्रमुखतः निम्न विषयों को समाहित किया गया है— (1) ध्वनि की उत्पत्ति, (2) ध्वनि—उच्चारण एवं ग्रहण के प्रमुख अवयव वाग्यंत्र व श्रोत्रेन्द्रिय की प्रक्रिया का अध्ययन (3) भाषा की विविध ध्वनियों का वर्णन, उच्चारण एवं वर्गीकरण (4) ध्वनिगुण (5) ध्वनियों का इतिहास (6) ध्वनि—परिवर्तन, ध्वनिपरिवर्तन के प्रकार एवं कारण, (7) ध्वनिनियम आदि।

अपत्यार्थक रूपों में ध्वनिवैज्ञानिक—मूल्यांकन के प्रमुख बिन्दु :

ध्वनिवैज्ञानिक—मूल्यांकन के अन्तर्गत हम प्रमुख रूप से ऋग्वेद व पाणिनिकाल में प्राप्त होने वाले अपत्यार्थक शब्दों में हुए ध्वनिपरिवर्तनों व उनके कारणों का अध्ययन करेंगे।

भाषिक—ध्वनियों में निरन्तर परिवर्तन होता रहता है। वक्ता या श्रोता की अयोग्यता के कारण, भौगोलिक, सामाजिक व राजनैतिक परिस्थितियों के कारण, स्वाभाविक विकास अथवा अन्य भाषाओं के प्रभाव के कारण या फिर प्रयत्नलाघव, क्षिप्रभाषण, स्वराघात आदि कारणों से ध्वनियों में परिवर्तन होता रहता है।

प्राचीन भाषाशास्त्रियों से लेकर आधुनिक भाषाविदों तक सभी ने इस विषय पर गहन अध्ययन करके अपने विचार प्रस्तुत किए हैं— निरुक्तकार यास्क² (8वीं शताब्दी ई०पू०) ने आदिशेष, आदिलोप, उपधालोप, अन्तलोप, आदिविपर्यय, वर्णोपजन आदि ध्वनिपरिवर्तन की एकाधिक दिशाओं का उल्लेख किया है।

Correspondence:

डॉ० ब्रजेन्द्र कुमार
असिस्टेंट प्रोफेसर संस्कृत विभाग
के०ए० (पीजी) कॉलेज कासगंज
(उ०प्र०)

¹ स्वयं राजन्ते इति स्वराः। अन्वग्भवति व्यञ्जनमिति।

² निरुक्त : अ० 2/9।

आचार्य पतञ्जलि³ (150 ई०पू०) ने महाभाष्य में चार ध्वनिपरिवर्तनों का कथन किया है।

- (1) वर्णव्यत्यय
- (2) वर्णनाश
- (3) वर्णोपजन
- (4) वर्णविकार।

आधुनिक भाषा-वैज्ञानिकों ने समीकरण (Assimilation) विषमीकरण (Dissimilation), आगम (Augment), लोप (Elision), समाक्षरलोप (Haplology), महाप्राणीकरण (Aspiration), अघोषीकरण (De-Vocalization), अनुनासिकीकरण (Nasalization) तथा अपश्रुति (Ablaut, Vowel Graduation) आदि ध्वनिपरिवर्तन के कतिपय रूपों का उल्लेख किया है।

अपत्यार्थकरूपों में हम निम्न बिन्दुओं पर ध्वनिपरिवर्तन का अध्ययन करेंगे

- (1) वृद्धि अपश्रुति (Vowel Gradation)
- (2) गुण
- (3) आगम (Augment)
- (4) आदेश/वर्णविकार
- (5) लोप (Elision)

वृद्धि

व्याकरण के सन्दर्भ में 'वृद्धि' एक पारिभाषिक शब्द है। पाणिनि ने 'आ', 'ऐ', तथा 'औ' इन तीन वर्णों का नाम वृद्धि रखा है।⁴ इनमें से 'आ' को मूल स्वर तथा 'ऐ' (अ + इ), 'औ' (अ+उ) को संयुक्त स्वर माना गया है। मूलस्वर— अ, इ, उ, ऋ तथा लृ के पूर्व में अ या आ जोड़ देने से वृद्धियुक्त ध्वनियों प्राप्त हो जाती हैं।

यथा— अ + अ = आ, अ + इ = ऐ
अ + उ = औ, अ + ऋ = आर्
अ + लृ = आल्।

- संस्कृत भाषा में वृद्धियुक्त रूपों की अधिकता है। शब्द चाहे क्रियारूप हों या फिर नाम पद सभी में वृद्धि का प्रचुर प्रयोग प्राप्त होता है। यथा— पाचयाति⁵ (पकवाता है) √पच् णिच् शप् तिप्, दैववातः⁶ (देववात का अपत्य) √देववात+अण्, वैवाहिकः (विवाह सम्बन्धी) √विवाह+इक, आदि।

पाश्चात्य भाषाविद् वृद्धि व गुण को एक प्रकार का विशिष्टध्वनिपरिवर्तन मानते हैं। वे इस भाषिक प्रक्रिया को अपश्रुति (Vowel Gradation) के अन्तर्गत रखते हैं। इनमें ह्रस्व-मात्राओं (अ, इ, उ) में परिवर्तन होता है। अतः इसे 'मात्रात्मक-परिवर्तन' भी कहते हैं इस परिवर्तन का कारण उदात्तस्वर (Accent) का होना या न होना माना जाता है। धातु आदि पर उदात्त स्वर होने पर 'गुण' या 'वृद्धि' नहीं होगी। प्रो० टी०बरो के शब्द इस विषय को अधिक स्पष्ट करते हैं⁷—

"शुद्ध स्वरध्वनितत्व (संस्कृत-अ, भारोपीय-अ, ऐ, ओ) निम्नलिखित ढंग के मात्रात्मक-परिवर्तन से प्रभावित था। इसे मूल प्रकृतिरूप अथवा प्रत्ययरूप किसी भी अक्षर में लुप्त किया जा सकता था, अथवा विकल्प से इसे दीर्घ बनाया जा सकता था। दूसरे शब्दों में कोई भी अक्षर सामान्य कोटि (अ) सबलकोटि (आ) अथवा शून्यकोटि में मिल सकता है। यह कोटि-निर्धारण संस्कृत-व्याकरण में मौलिक महत्व का है, जिसे

संस्कृत-वैयाकरणों ने पूरी तरह स्वीकार किया है। उन्होंने सबल कोटि को वृद्धि और सामान्य कोटि को गुण नाम दिया है। दुर्बल अथवा शून्यकोटि का उन्होंने नामकरण नहीं किया है, क्योंकि उन्होंने अपनी व्याकरणिक-प्रक्रिया को इस ढंग से निबद्ध किया है कि वे शून्यकोटि को मूलकोटि मानकर चलते हैं और इससे वे सबलीकरण की दो भिन्न प्रक्रियाओं से गुण और वृद्धि-कोटियों को सिद्ध करते हैं।"

वृद्धि के प्रयोग में संस्कृत ने एक ऐसी विकास-पद्धति को विकसित किया है, जो अन्य भारोपीय-भाषाओं में सर्वथा परिज्ञात थी। वृद्धि के इस प्रयोग के विकास का ठीक-2 विवरण तो प्राप्त नहीं होता है किन्तु, उपलब्ध सामग्री के आधार पर प्रो० टी० बरो का कहना है⁸— "वृद्धि की इस प्रक्रिया का आरम्भ भा०यू० युग के आखिर में हुआ, भारतीय-आर्य के प्राग्वैदिक युग में तेजी से विकसित होने लगी और संस्कृत के ऐतिहासिक विकास के दरमियान उसका प्रसार होता रहा। भारत-ईरानी से बाहर भा०यू० भाषाओं में इस तरह के रूपों के पूर्ण अभाव से यह स्पष्ट हो जाता है कि यह विकास केवल उन्हीं भाषाओं तक सीमित था। प्राचीन ईरानी में वृद्धियुक्त रूपों का अत्यधिक कम होना, इस बात को स्पष्ट करता है कि शब्द-रचना की यह कोटि भारतीय-आर्य और ईरानी के परस्पर पृथक्करण के समय केवल अपनी प्रारम्भिक अवस्था में थी।"

संस्कृत के तद्धित रूपों के अनिवार्य रूप से वृद्धि का प्रयोग प्राप्त होता है। पाणिनि के अनुसार— प्रतिपादिक के प्रथम (आदि) स्वर, अ, इ, उ को क्रमशः आ, ए, औ के रूप में वृद्धि हो जाती है ज्, ण् तथा क् अनुबन्धयुक्त तद्धित प्रत्यय के परे रहते⁹। यथा— दाक्षि-दक्ष + इज् शैवः - शिव + अण्, औपगवः - उपगु + अण्।

ऋग्वेद की ऋचाओं में लगभग सौ अपत्यार्थक शब्द प्राप्त होते हैं उनमें यदि ऋषि नामों को भी सम्मिलित कर लिया जाये तो यह संख्या लगभग एक सौ पचास तक पहुँच जाती है।

- आदि स्वर 'अ' को 'आ' वृद्धि होती है। सम्पूर्ण अपत्यार्थक रूपों में से लगभग साठ रूप इस प्रकार की वृद्धि वाले हैं जो कि सर्वाधिक हैं। वृद्धि का यह रूप सबसे पहले प्रचलित हुआ होगा। उदाहरणार्थ—
नभाक अ झ नाभाक परावत अ झ पारावतम्
कण्व अ झ काण्व भरत अ झ भारत
अङ्गिरस् अ झ आङ्गिरसः चयमान अ झ चायमानः
भरद्वाज अ झ भारद्वाज व्यन्त् अ झ वायतः
मयु अ झ मायवः प्लयोग अ झ प्लायोगिगः
अर्जुनी एय झ अर्जुनेयम् सरमा एय झ सारमेय इत्यादि।
पाणिनि के समय तक आते आते यह पूर्णतया विकसित हो गयी।
- समस्त-पदों में भी आदि अच् को वृद्धि होती है - संवरण अ झ सांवरणः
किन्तु, पाणिनी कुछ विशिष्ट समस्त पदों में पूर्वपद को विकल्प से और उत्तरपद के आदि अच् को नित्य वृद्धि का उल्लेख करते हैं।¹⁰
- आदि स्वर ऋ को आर् वृद्धि होती है।¹¹ यथा - वृषागिर अ झ वृ ऋ = आर् षगिर अ झ वर्षागिरः
ऋचत्क अ झ ऋ = आर् चत्क अ झ आर्चत्कः
नूमर अ झ न् ऋ = आर् मर अ झ नार्मरः
सृज्जय अ झ स् ऋ = आर् ज्जय अ झ सार्ज्जयः
- आदि स्वर 'इ' तथा 'ए' को 'ऐ' वृद्धि होती है। रूपों की दृष्टि से इसका दूसरा स्थान है। ऋग्वेद में इसके लगभग दो

³ वर्णव्यत्यापायोजनविकारेषु अर्थदर्शनात्, वर्णव्यत्यये-कृतेस्तर्कः कसेः सिकता, हिसेः सिंहः।

अपायो लोपः-इत्, घन्तिः। उपजन आगमः-लविता, लवितुम्। विकार आदेशः-घातयति, घातकः। — व्या०महा०, नवाह्निक, 2, 761।

⁴ वृद्धिरादैच् : अ०-1-1-1।

⁵ अत उपधायाः : अ० 7-2-116।

⁶ तद्धितेष्वचामादेः : अ० 7-2-117।

⁷ संस्कृत भाषा : टी० बरो : पृ० 130।

⁸ वही : पृ० 140।

⁹ तद्धितेष्वचामादेः :किति च-अ०-7-2-117-118।

¹⁰ प्रवाहणस्य ङेः : अ०-7-3-28।

¹¹ उरण् रपरः : अ०-1-1-51।

दर्जन उदाहरण प्राप्त होते हैं। यथा—

विदथिन अ झ वैदथिनः त्रिवृष्ण अ झ त्रैवृष्णः
गिरिक्षत अ झ गैरिक्षतः पिजवन अ झ पैजवनः

- आदि अच् उ, ऊ तथा ओ को 'औ' वृद्धि होती है। उशिज् अ झ औशिजः उचथ्य अ झ औचथ्यः

उरू अ झ और्वः पूतक्रता अ झ पौतक्रतः

पुरुकुत्स इ झ पौरुकुत्सिम् तुग्र य झ तौग्रयः

इस नियम के कतिपय अपवादरूप प्राप्त होते हैं। स्वश्व य झ सौवश्व्यः व्यश्व अ झ वैयश्वः यहाँ नियमतः आदि अच् अ को आ वृद्धि होनी चाहिए। दोनों पद सु+अश्व तथा वि+अश्व के योग से बने हैं। पाणिनि के अनुसार दो अचों के योग में पूर्ववाला यदि इक् (इ, उ, ऋ, लृ) हो तो उसका यण् (य, र, ल, व) के रूप में व्यञ्जीकरण हो जाता है।¹²

पाणिनि इस प्रकार के शब्दों को अलग प्रकार से अनुशासित करते हैं।¹³ उनके अनुसार यहाँ वृद्धि न होकर व्यश्व तथा श्वश्व के आदि यकार व वकार से पूर्व क्रमशः ऐ व औ का आगम होता है। व ऐ यश्व अ झ वैयश्वः, स् औ वश्व + य झ सौवश्वः।

अवेस्ता में संयुक्त व्यंजन होने पर ध्वनि के अनुरूप एक स्वर (इ या उ) का आगम हो जाता है जिसे अपनिहित या समस्वरागम (Epenthesis) कहते हैं। यथा सं. — मरन्ति झ अवे. — बरइन्ति (Barainti) सं.—अर्वन्तः झ अवे.—अउर्वन्तः (Aurvanta)। सम्भवतः 'स्वश्व' और 'व्यश्व' जैसे रूपों में अवेस्ता के प्रभाव समस्वरागम होकर सुवश्व तथा वियश्व हो गया। तदनन्तर आदि अच् को वृद्धि होकर सौवश्वः तथा वैयश्वः रूप बन गये।¹⁴

एक रूप इस अपवाद का भी अपवाद है जहाँ ऐजागम या अपनिहित नहीं होती किन्तु, सामान्य रूप से आदिस्वर को वृद्धि होती है। श्यवाश्व अ झ श्यावाश्वः।

अपत्यार्थक रूपों में ऋग्वैदिक वृद्धि के विषय में पाणिनिकाल में कुछ विशिष्ट परिवर्तन दृष्टिगोचर होते हैं। जिनका अपनी अष्टाध्यायी में पाणिनि उल्लेख करते हैं।

- ऋग्वेद में समासयुक्त अपत्यार्थक पदों में दोनों पदों से अलग—2 वृद्धि न होकर केवल आदि पद के आदि अच् को ही होती थी। यथा—

सम् + वरण झ संवरण अ झ सांवरणः प्र तर्दन झ प्रतर्दन इ झ प्रातर्दनिः

भरद् वाज झ भरद्वाज अ झ भारद्वाजः सह देव झ सहदेव य झ साहदेव्यः इत्यादि।

- वेद में केवल इसका एक अपवाद मिलता है— पृषद् वन झ पृषद्वण अ झ पार्षद्वणः — यहाँ पृषद् तथा वन दोनों पदों के आदि अचों को वृद्धि हुयी है।

पाणिनि कुछ अपत्यार्थक समस्त पदों का उल्लेख करते हैं। जिनमें उभयपदों के आदि अच् को वृद्धि होती है।¹⁵

सु+भग झ सुभग इन्द्र झ सुभगिन् एय झ सौभागिनेयः

अंगार + वेणु झ अंगारवेणु अ झ आंगारवैणवः¹⁶

- प्र + वाहन झ प्रवाहण पद में पूर्वपद में विकल्प से वृद्धि होती है ढक् व तद्धित प्रत्यय के परे रहते¹⁷ प्रवाहरण ढक् (एय) प्रावाहणेयः, प्रवाहणेयः।

ऋग्वेद में अपत्यार्थक प्रत्यय के लुक् (लोप) का कोई उदाहरण प्राप्त नहीं होता। किन्तु पाणिनि इस प्रकार के अनेक अपत्यार्थक शब्दों का उल्लेख करते हैं जिसमें प्रत्यय का लुक् हो गया है। वृद्धि का निमित्त प्रत्यय होता है — निमित्त के अभाव में नैमित्तिक

(वृद्धि) का भी अभाव होता है।¹⁸ यथा—

गर्ग य (यज्) जस् झ गर्ग अस् झ गर्गाः (गर्ग गोत्र में उत्पन्न अनेक पुरुष)

बिद अ (अज्) जस् बिद् अस् झ बिदाः (बिद ऋषि के एकाधिक पौत्र)¹⁹

इस प्रकार यह तथ्य सुस्पष्ट हो जाता है कि अपत्यार्थक शब्दों के संरचना में वृद्धि का महत्वपूर्ण योगदान रहा है। अपत्यार्थक से भिन्न अन्य तद्धित अर्थों के विकास में भी इसने अनिवार्य भूमिका निभाई है।

गुण :

यह पाणिनि शब्दानुशासन में प्रयुक्त एक पारिभाषिक शब्द है। 'अ', 'ए', 'ओ' इन तीनों ध्वनियों का नाम गुण रखा गया है।²⁰ अ = (अ, अर् झ अल) ए = (अय) ओ = (अव्) इन सभी ध्वनियों को गुण के अन्तर्गत माना जाता है।

गुण भी वृद्धि की भांति अपश्रुति (मात्रात्मक परिवर्तन) के अन्तर्गत आता है। भारतीय-भाषाविदों के अनुसार सरलीकरण की दो प्रक्रिया में गुण प्रथम प्रक्रिया है। जिसके अन्तर्गत निम्न मूल ध्वनियों को गुण होता है।

मूल ध्वनि (सामान्य कोटि)	गुण ध्वनि (सबल कोटि)
अ	अ
ऋ	अर्
लृ	अल्
इ	ए (अइ), अय्
उ	ओ (अउ), अव्

पाश्चात्यभाषाविद् गुण को सामान्यकोटि तथा 'मूलध्वनि' को सामान्यकोटि या दुर्बलकोटि कहते हैं। अपत्यार्थक शब्दों में गुण का प्रयोग अतिन्यून है। आदि अच् पर तो वृद्धि का एकाधिकार है। अन्तिम अ इ वर्णों का लोप हो जाता है।²¹

- अन्तिम उवर्ण को भी ओ गुण होता है²², ओ को स्वर (अच्) परे रहते 'अव्' हो जाता है²³ यथा—

दानो अ झ दान् ओ = अव् अ झ दानवम्

त्रासदस्यो अ त्रासदस्य् ओ = अव = अ झ त्रासदस्यवम्

मयो अ झ माय् ओ = अव = अ झ मायवः।

- गुण नियम के अपवादभूत कतिपय रूप मिलते हैं जिनमें गुण न होकर यणादेश हो जाता है—

पेदु अ झ पैदु अ झ पैद् उ = व् अ झ पैद्वः

तनु अ झ तानु अ झ तान् उ = व् अ झ तान्वः

उरू अ झ और्वः।

अपत्यार्थक रूपों में 'गुण' का स्वरूप योगदान है। इस नियम के विषय में पाणिनि द्वारा कोई विशेष अपवाद प्रस्तुत नहीं किया गया है।

- कतिपय ऋषिनामों में गुण द्रष्टव्य है—

भृगु अ झ भार्गु अ झ भार्गो अ झ भार्गवः

कद्रु एय झ काद्रु एय झ काद्रो एय झ काद्रवेयः

उरू अ झ और्वु अ झ और्वो अ झ और्ववः।

- के परे रहते गुण हुए 'ओ' को 'अव्' हो जाता है।²⁴

वितहु य झ वैतहो य झ वैतह् ओ झ अव य झ वैतहव्यः।

वृष्टिहु य झ वार्ष्तिहो य झ वार्ष्तिह् ओ = अव् य झ

¹² इको यणचि : अ०-6-1-76।

¹³ न ख्याभ्यां पदान्ताभ्यां पूर्वो तु ताभ्यामैच्-अ०-7-3-3।

¹⁴ Altindische Grammatik – Wackernagel, J. ; 36b Bond II, 2.

¹⁵ ह्रदभगसिन्ध्वन्ते पूर्वपदस्य च-अ०-7-3-19।

¹⁶ अनुशक्तिकादीनां च – 7-3-20।

¹⁷ प्रवाहणस्य ढेः – अ० 7-3-28।

¹⁸ निमित्तापाये नैमित्तिकस्याप्यपायः – इतिनियमः।

¹⁹ यज्जोश्च – अ० 2-4-64।

²⁰ अदेङ् गुणः अ० 1-1-2।

²¹ यस्येति च – अ० 6-4-148।

²² ओर्गुणः – अ० 6-4-46।

²³ एचोऽयवायावः – अ० 6-1-77।

²⁴ वान्तो यि प्रत्यये – अ० 6-1-78।

वाष्पिहव्यः

मधु य (यज्) झ माधो य झ माध् ओ = अच् य झ माधव्यः ।

आगम/वर्णोपजन (Augment/Intrusion)

उच्चारण की सुविधा के लिए शब्दों के आदि, मध्य या अन्त में कुछ ध्वनियों जोड़ दी जाती हैं इन्हें आगम कहते हैं। व्याकरणशास्त्र में आगम के लिए उक्ति प्रचलित है— 'आगमः मित्रवद् भवति' ।

- पाणिनि 'वैयश्वः' तथा 'सौवश्वः' दोनों रूपों में वृद्धि नहीं मानते अपितु, क्रमशः 'व्यश्व' 'स्वश्व' शब्दों में यकार तथा वकार से पूर्व ऐकार व औकार वर्णों का आगम मानते हैं।²⁵
- 'मानुषः' शब्द में 'मनु' जाति वाचक शब्द से षुक् (ष) का अन्तागम होता है।²⁶ मनुष् (षुक्) अ (अम्) झ मानुषः। यास्क 'मनुष्' को भी मूल शब्द मानते हैं²⁷— मनुष् यत् झ मनुष्यः।
- 'दिवदास' ऋषिवाचक शब्द से अपत्यार्थ में 'इ' प्रत्यय तथा मध्य में 'उ' का आगम अपेक्षित है दिव उ दास इ झ दैवोदासिः ।
- 'माधुच्छन्दसः' यहाँ 'मधुच्छन्दसः' समस्तपद के मध्य त् (तुक्) का आगम होता है²⁸ त् को छ के समीप होने से 'च्' हो गया।²⁹ मधुत् (तुक्) छन्दस् मधुच्छन्दस् अ झ माधुच्छन्दसः। वैदिक अपत्यार्थक शब्दों में 'आगम' का अतिन्यून प्रयोग मिलता है। आगम का प्रयोग समय के साथ—2 भाषा में अधिक होता जाता है पाणिनि ने कुछ वर्णागमों का उल्लेख किया है जो न्यून है।
- भ्रू शब्द से अपत्यार्थ में ढक् (एय) प्रत्यय तथा वुक् (व) का आगम हो।³⁰ भ्रू एय (ढक्) झ भ्रू व् (वुक्) एय झ भ्रूव् एय झ भ्रौवेयः।
- 'कोसल' तथा कमरि शब्दों से फिज् (आयनि) प्रत्यय तथा युट् (य) का आगम हो।³¹ कोसल य (युट्) आयनि (फिज्) कोसल्य् आयनि झ कौसल्यायनिः, कार्मार्यायणिः।
- 'छाग' और 'वृष' शब्दों से भी उपर्युक्त विधि जाननी चाहिए।³² छाग य् (युट्) आयनि (फिज्) झ छाग्यायनिः, वृष य् (युट्) आयनि (फिज्) वार्षायणिः।
- 'वाकिन' आदि कतिपय शब्दों से अपत्यार्थ में कुक् (क्) वर्णोपजन तथा फिज् (आयनि) प्रत्यय विकल्प से हों।³³ वाकिन क् (कुक्) आयनि (फिज्) झ वाकिनकायनिः।
- पुत्रान्त प्रातिपादिक से भी उपरि कथित विधि विकल्प से करनी चाहिए।³⁴ गार्गी पुत्र क् (कुक्) आयनि (फिज्) झ गार्गीपुत्रकायणिः।

आदेश/वर्णविकार

मुखसुख, प्रयत्नलाघव, अर्थवैशिष्ट्य समीपवर्ती वर्ण के प्रभाव से या किन्हीं अन्य कारणों से वर्ण या वर्ण समूह में जो परिवर्तन हो जाता है उसे आदेश या विकार कहते हैं। आदेश व आगम में प्रमुख भेद यह है कि आदेश किसी के स्थान पर होता है किन्तु, आगम के लिए स्थानी की आवश्यकता नहीं होती है। आदेश

किसी वर्ण का बलात् स्थान ग्रहण करता है अतः इसे शत्रु के समान मानते हैं— 'आदेशः शत्रुवद् भवति।' यह वर्णविकार व पदविकार के भेद से दो प्रकार का हो सकता है। वैदिक अपत्यार्थक रूपों में वर्णविकार की यह प्रवृत्ति द्रष्टव्य है।

- 'ऋ' अच् वर्ण को 'र्' होता है यदि आगे स्वरवर्ण हो।³⁵ त्वष्ट् अ झ त्वष्ट् ऋ = र् त्वाष्ट्रम्।
- 'उ' को 'व' आदेश हो जाता है स्वर के परे रहते यह गुण का अपवाद है—
पेदु अ झ पेद् उ = व् अ झ पैद्ः, तनु अ झ तन् उ = व् अ झ तान्वः।
- 'ओ' गुणसंज्ञक वर्ण को अच् आदेश होता है स्वर परे रहते³⁶ —
दानो अ झ दान् ओ = अच् अ झ दानवम्।
पार्थो अ झ पार्थोओ = अच् अ झ पार्थवः,
मायो अ झ माय् ओ = अच् अ झ मायवः,
काद्रो एय झ काद्र् ओ = अच् एय झ काद्रवेयः इत्यादि।
- कतिपय उदाहरणों में स्वर परे न होकर 'य' प्रत्यय परे हो तो भी 'ओ' को 'अच्' आदेश हो जाता है।³⁷
वैत हो य झ वैतह् ओ = अच् य झ वैतहव्यः।
वाष्पिहो य झ वाष्पिह् ओ = अच् य झ वाष्पिहव्यः।
- 'स्' को 'ष्' मूर्धन्यादेश होता है। ऋष्टि सेन अ झ ऋष्टिषेन अ झ आर्ष्टिषेणः।
- पाणिनि के अनुसार इवर्ण से आगे 'स्' को 'ष्' मूर्धन्यादेश होता है। संज्ञा का विषय हो तो।³⁸ हरिसेन य (व्य) झ हरिषेन य झ हारिषेण्यः।
- 'न्' के स्थान पर 'ण्' मूर्धन्य वर्ण हो जाता है पाणिनि इस मूर्धन्यादेश के लिए व्यवहित या अव्यवहित रेफ या षकार में से कोई एक मूर्धन्य वर्ण का पूर्व में होना अनिवार्य मानते हैं।³⁹
ऋष्टिषेन अ झ ऋष्टिषेण अ झ आर्ष्टिषेणः।
हरिषेन य झ हरिषेण य झ हारिषेण्यः।
पृषद्वन अ झ पृषद्वण् अ झ पार्षद्वणः।
अथर्वन् अ झ अथर्वण् अ झ आथर्वणः।
ब्रह्मन् अ झ ब्रह्मण् अ झ ब्राह्मणः।
संवरन् अ झ संवरण् अ झ संवारणः।
णत्व का अपवाद — प्रतर्दन इ झ प्रातर्दनिः।
पाणिनि अपत्यार्थक रूपों में कुछ विशिष्ट वर्णविकारों का उल्लेख करते हैं।
- 'सुधात्' शब्द के अन्तिम ऋवर्ण के स्थान पर अक (अकड्) आदेश होता है।⁴⁰
सुधात् इ (इज्) झ सुधात् ऋ = अक (अकड्) इ झ सुधातक इ झ सौधातकिः।
- संख्यादि पूर्व पद वाले मातृशब्द के ऋ को 'उ' (उर्) आदेश होता है।⁴¹
द्विमात् अ झ (अण्) द्विमात् ऋ = उर् अ झ द्विमातुर् अ झ द्वैमातुर्ः।
- कल्याणी आदि शब्दों के अन्त्यवर्ण के स्थान पर इन् (इनड्) आदेश होता है⁴²

²⁵ अ० 7-3-3।

²⁶ मनोर्जातावज्यतौ पुक् च - अ० 4-1-161।

²⁷ मनोः अपत्यं मनुषो वा, नि० 3/2

²⁸ छे च - अ० 6-1-72।

²⁹ स्तोः श्चुना श्चुः - अ० 8-4-40।

³⁰ भ्रुवो वुक् च - अ० 4-1-125।

³¹ कौसल्यकार्मार्याभ्यास् अ० 4-1-125।

³² छाग वृषयोरपि - अ० 4-1-155।

³³ वकिनादीनां कुक् च - अ० 4-1-158।

³⁴ पुत्रान्तादन्यतरस्याम् - अ० 4-1-158।

³⁵ इको यणचि - अ० 6-1-76।

³⁶ एचोऽयवायावः - अ० 6-1-77।

³⁷ वान्तो यि प्रत्यये अ० 6-1-78।

³⁸ ग०सू० एतिसंज्ञामगात् - अ० 8-3-98।

³⁹ रषाभ्यां नो णः समानपदे - अ० 8-4-1, 2 अट्कुप्वाड् नुम्व्यवायेऽपि।

⁴⁰ सुधातुरकड् च अ० 4-1-97, स्थानीनियम-डिच्य अ० 1-1-53।

⁴¹ मातुरुत्संख्यासम्भद्रपूर्वायाः - अ० 4-1-115।

⁴² कल्याण्यादीनामिन्ड् च अ० 4-1-126।

कल्याणी एय (ढक्) कल्याण् इ = इन (इनङ्) एय झ कल्याणिन् एय झ कल्याणिनेयः ।

- कुलटा शब्द के अन्त्य वर्ण को विकल्प से इन् (इनङ्) होता है⁴³— कुलटा एय (ढक्) झ कुलटिन् एय झ कौलिटिनेयः, इनङ् न होने पर कुलटा एय झ कौलिटेयः ।
 - कुछ स्थानों पर प्रत्ययविकार भी दृष्टिगोचर होता है। स्त्री गोत्रापत्य वाच्य होने पर अ (अण्) इ (इञ्) गोत्रप्रत्ययों के स्थान पर य, (यङ्), आदेश हो जाता है।⁴⁴ यह आदेश केवल उन्हीं शब्दों से होगा जो ऋषिवाचक न हों तथा जिनके अन्तिम समीपवर्ती पूर्ववर्ण गुरु हों।
- कौमुदगन्ध अ = य (यङ्) झ कौमुदगन्धय (चाप्) सु झ कौमुदगन्ध्या ।
- वराह इ (इञ्) वाराह इ = (ष्यङ्) झ वारह्य चाप् सु झ वाराह्या
- गोत्रावयववाचक शब्द के गोत्रापत्यार्थक 'अ' (अण्) व 'इ' (इञ्) प्रत्ययों को स्त्री अर्थ में 'य' (ष्यङ्) आदेश होता है।⁴⁵ पुणिक् इ (इञ्) पौणिक् इ = य (ष्यङ्) झ पौणिक्या, 'भुणिक्' अ (अण्) झ भौणिक् अ = य (ष्यङ्) झ भौणिक्या ।
 - पदविकार का एक उदाहरण उपलब्ध होता है 'कन्या' पद के स्थान पर अपत्यार्थ 'कनीन' आदेश होता है।⁴⁶ कन्या अ (अण्) झ कन्या = कनीन अ झ कानीनः ।

लोप/अपाय (Elition)

मुखसुख, स्वराघात, उच्चारण में शीघ्रता या असमर्थता या किसी अस्पष्ट कारण से कुछ ध्वनियों का लोप हो जाता है। पाणिनि शब्दानुशासन में ध्वनि के दर्शन (श्रवण) न होने का नाम लोप है।⁴⁷ यह लोप मुख्यतः प्रकृति-लोप व प्रत्यय-लोप के भेद से दो प्रकार का होता है। पाणिनि ने प्रत्यय लोप के तीन नाम रखे हैं— लुक्, श्लु, लुप्⁴⁸

(क) प्रकृतिलोप — प्रकृतिलोप से तात्पर्य है प्रकृत्यंश लोप। अपत्यार्थ रूपों में सम्पूर्ण प्रकृति का लोप कहीं प्राप्त नहीं होता है। शब्द के अन्त में आने वाले अ, आ तथा इ ई प्रकृत्यंश का तद्धित प्रत्यय के लगने पर लोप हो जाता है तद्धित के सन्दर्भ में यह नियम निरपवाद है एवं वृद्धि की भांति व्यापक है। पाणिनि-अनुशासन में यह विशिष्ट नियम के रूप में सम्मिलित है।⁴⁹

अलोप — कुशिक अ झ कुशिक् अ अ झ कौशिकः ।

भरत अ झ भरत् अ अ झ भारतः ।

अग्निवेश इ झ अग्निवेश् अ इ झ आग्निवेशिः ।

सहदेव य झ सहदेव् अ य झ साहदेव्यः ।

आलोप — पूतक्रता अ झ पूतक्रत् आ अ झ पौतक्रतः ।

इडा अ झ इङ् आ अ झ ऐङ्,

पृथा य झ पृथ् आ य झ पार्थ्यः

ममता एय झ ममत् आ एय मामतेयम् ।

इलोप — अदिति य झ अदित् इ य झ आदित्यः

शतवनि एय झ शतवन् इ एय झ शातवनेयः

ईलोप — अर्जुनी एय झ अर्जुन् ई एय झ आर्जुनेयम् ।

ऋग्वेद के अपत्यार्थक शब्दों में उक्त लोप के अतिरिक्त अन्य किसी प्रकार का लोप दृष्टिगोचर नहीं होता है, किन्तु पाणिनि इस सन्दर्भ में कुछ विशेष रूप प्रस्तुत करते हैं।

सन्दर्भ ग्रन्थ :

1. अष्टाध्यायी सूत्रपाठ (पाणिनि) — गुरुकुल वृन्दावन स्नातक शोध, पीतमपुरा, दिल्ली, 2000 ।
2. ऋग्वेदसंहिता (मूल) — परोपकारिणी सभा, वैदिक यन्त्रालय, अजमेर, 1998 ।
3. ऋग्वेद (सायणभाष्य) — सम्पादक — मैक्समूलर, चौखम्मा संस्करण, वाराणसी, 1966 ।
4. कशिकावृत्ति — भाग षष्ण् पट — जयशंकरलाल त्रिपाठी, तारा बुक एजेन्सी, (न्यासपदमञ्जरीभावबोधिनीसहिता) कामाच्छा, वाराणसी, 1984 ।
5. व्याकरणमहाभाष्य (पतञ्जलि) — आचार्य मधुसूदन प्रसाद मिश्र चौखम्मा विद्या भवन, वाराणसी, 1995
6. निरुक्त (यास्ककृत) भाग ए ष — डॉ० चन्द्रमणि विद्यालंकार, गुरुकुल झज्जर, हरियाणा
7. संस्कृत भाषा — टी० बरो, अनु० भोलाशंकर व्यास, चौखम्मा विद्या भवन, वाराणसी
8. Itindische Grammatic Vol. IIInd — J. Wackernagol, Vandenhoeck and Ruprecht, Gotingen., 1954.

⁴³ कुलटाया वा — अ० 4-1-127 ।

⁴⁴ अणिओरनार्षयोर्गुरुपोत्तमयोः ष्यङ् गोत्रे अ० 4-1-78 ।

⁴⁵ गोत्रावयवात् अ० 4-1-79 ।

⁴⁶ कन्यायाः कनीन च उ० 4-1-116 ।

⁴⁷ अदर्शनं लोपः — अ० 1-1-60 ।

⁴⁸ प्रत्ययस्य लुक्श्लुलुपः अ० 1-1-61 ।

⁴⁹ यस्येति च — अ० 6-4-148 ।